

द्वितीय अध्याय

समकालीन हिंदी रंगमंच : परम्परा और प्रयोग

2.1 रंगमंच की परम्परा और स्वरूप

किसी भी देश की सभ्यता-संस्कृति के विकास में सृजनात्मक-कलात्मक अभिव्यक्तियों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इनके द्वारा जहाँ एक ओर समाज का मनोरंजन होता है वहीं दूसरी ओर यह समाज के मौलिक आदर्शों और मूल्यों को भी प्रकट करती है। रचनात्मक प्रक्रिया का यही दोहरा पक्ष हमारे जीवन में संगीत, चित्रकला, साहित्य, नाट्य आदि कलाओं का महत्त्व बढ़ाता है। प्रसिद्ध रंग समीक्षक नेमिचंद्र जैन के अनुसार, “कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा समाज का सर्वाधिक वांछनीय और संस्कृत अनुरंजन होता है जो जन-मानस का परिष्कार भी करता है और संस्कृति के मौलिक मूल्यों की स्थापना भी।”¹ रंगमंच भी एक ऐसी प्रदर्शनकारी कला है जो केवल मनोरंजन ही नहीं करती अपितु जीवन के विविध अनुभवों को रूपायित भी करती है। यह एक जीवंत कला है। रंगमंच को कला-अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम मानते हुए दया प्रकाश सिन्हा लिखते हैं, “रंगमंच एक विशिष्ट कलात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम है। वह सीमित अर्थों में किसी वर्ग-विशेष का नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज का, अपनी विविधताओं सहित प्रतिनिधित्व करता है। इस अर्थ में वह सम्पूर्ण विश्व है।”²

देखा जाए तो ‘रंगमंच’ शब्द का आविर्भाव ‘रंग’ और ‘मंच’ शब्दों के संयोग से हुआ है। यह दोनों शब्द संस्कृत भाषा के शब्द हैं, परन्तु इन दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग ‘नाट्यशास्त्र’

¹ जैन, नेमिचंद्र; रंग-दर्शन; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 1996; पृ. 9

² सिंह, डॉ. केदारनाथ; हिंदी के प्रतीक नाटक और रंगमंच; विद्या विहार, गांधी नगर, कानपुर; संस्करण 1985; पृ. 47

में कहीं नहीं मिलता है। इस संदर्भ में डॉ. अज्ञात मानते हैं, “रंगमंच अपेक्षाकृत एक अर्वाचीन शब्द है, जिसका उल्लेख भरत नाट्यशास्त्र या अन्य परवर्ती नाट्य-विषयक लक्षण-ग्रंथों में नहीं मिलता। अपने सीमित अर्थ में यह नाट्यशास्त्र में वर्णित ‘रंगशीर्ष’ अथवा ‘रंगशीर्ष एवं रंगपीठ’ दोनों का संयुक्त पर्याय प्रतीत होता है। नाट्यमंडप के आधे पृष्ठ भाग को पुनः दो बराबर भागों में विभक्त करने पर उसके आधे अग्र भाग को ‘रंगशीर्ष’ और पीछे के भाग को नेपथ्य कहते हैं। अभिनवगुप्त ने इस ‘रंगशीर्ष’ वाले भाग के पुनः दो भाग कर, शिरोभाग को ‘रंगशीर्ष’ और पादभाग को ‘रंगपीठ’ माना है। इस प्रकार ‘रंगशीर्ष’ और ‘रंगपीठ’ वस्तुतः एक ही ‘रंग’ के दो पीछे-आगे के भाग हैं। इस प्रकार ‘रंग’ कहने मात्र से पूरे ‘रंगमंच’ का बोध होता है, अतः रंगमंच में ‘मंच’ शब्द अनावश्यक प्रतीत होता है, वैसे ही जैसे ‘पावरोटी’ में रोटी, क्योंकि पुर्तगाली भाषा में ‘पाव’ शब्द का अर्थ ही रोटी होता है। भाषा-विकास के सिद्धांत के अंतर्गत लोक-व्यवहार की कसौटी पर चढ़कर ‘पाव’ शब्द ‘पाव-रोटी’ बन गया और ‘रंग’ शब्द ‘रंगमंच’।”³

संस्कृत में ‘रंग’ शब्द स्थल-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। यानी वह स्थल जहाँ नाट्य अभिनय प्रस्तुत होता हो। कालांतर में इस शब्द का प्रयोग लोक व्यवहार की कसौटी पर चढ़कर ‘मंच’ शब्द के साथ जुड़ते हुए ‘रंगमंच’ बन गया। हिंदी में भी यह शब्द काफी समय तक स्थल-विशेष का ही अर्थबोध करता रहा। संस्कृत रंगमंच के संदर्भ में चर्चा करते हुए जयशंकर प्रसाद ने भी ‘रंगमंच’ शब्द का अर्थ अभिनय स्थल-विशेष से ही लिया था। ‘रंगमंच’ नामक अपने निबंध में उन्होंने लिखा है, “रंगमंच में भी दो भाग थे। पिछले भाग को रंगशीर्ष कहते थे और सबसे आगे का भाग रंगपीठ कहा जाता था।”⁴ परन्तु आगे चलकर नए समय के अनुसार नए भाव-बोध के अनुरूप ‘रंगमंच’ के अर्थ में एक व्यापक परिवर्तन आया है। शब्द वही है बस अर्थ

³ डॉ. अज्ञात; भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास; पुस्तक संस्थान, कानपुर; संस्करण 1978; पृ. 27

⁴ प्रसाद, जयशंकर; ‘रंगमंच’; वर्तमान साहित्य; (सं.) विभूति नारायण राय; ‘शताब्दी नाटक विशेषांक’; जुलाई-अगस्त, 2000; पृ. 21

के संदर्भ बदल गए। विद्वानों ने अब इस शब्द को अंग्रेजी के 'थियेटर' शब्द का पर्याय माना। "थियेटर के अंतर्गत नाट्य-साहित्य, प्रस्तुतीकरण, अभिनय, उपस्थापन, रंग-शिल्प, रंग-भवन, रंगशाला और नाट्यालोचन और इन सबका शास्त्र समाहित है।"⁵ अर्थात् अब उसकी परिधि में रंग-प्रस्तुतीकरण से सम्बंधित सभी तत्त्व आ गए हैं। प्रस्तुत है इन तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय-

नाटक : संस्कृत में नाटक रूपक का एक प्रधान अंग रहा है। हिंदी में आज इसका व्यवहार अंग्रेजी ड्रामा के पर्याय के रूप में होने लगा है। नाट्यशास्त्र में नाटक के मूलभूत रचनात्मक तत्त्व तीन माने गए हैं- वस्तु, नेता और रसा। दूसरी तरफ पाश्चात्य नाट्य चिंतकों ने नाटक के छः तत्त्व माने हैं और यही आजकल हिंदी नाट्य-साहित्य में मान्य है। ये तत्त्व हैं- वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य। देखा जाए तो ये छः तत्त्व उपन्यास या कहानी के भी रचनात्मक तत्त्व मने जाते हैं। लेकिन इसके बावजूद भी नाटक इस दोनों विधाओं से अलग है। क्योंकि वह श्रव्य के साथ-साथ दृश्य भी है।

एक नाटककार की सफलता उसी में है कि उसका नाटक रंगमंच पर अच्छी तरह से अभिनीत हो। वास्तव में नाटक और रंगमंच दोनों अन्योन्याश्रित हैं। "नाट्य-कृति और रंगमंच एक दूसरे के कार्य और कारण हैं, दूसरे स्तर पर एक-दूसरे के पूरक और यहां तक कि एक दूसरे के पर्याय भी।"⁶

निर्देशक : निर्देशक का सामान्य अर्थ है, निर्देश देने वाला। रंग प्रस्तुति से जुड़े सभी तत्त्वों को एक सूत्र में पिरोकर एक निश्चित दिशा में ले जानेवाला व्यक्ति है, निर्देशक। किसी रंग-प्रस्तुति को सफल बनाने में निर्देशक का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। सार्थक प्रदर्शन में नाटक जिस रूप से

⁵ सिंह, डॉ. केदारनाथ; हिंदी के प्रतीक नाटक और रंगमंच; विद्या विहार प्रकाशन; गांधी नगर, कानपुर; संस्करण 1980; पृ. 46

⁶ लाल, डॉ. लक्ष्मीनारायण; रंगमंच और नाटक की भूमिका; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; संस्करण 1989; पृ. 15

दर्शक के पास पहुँचता है, वह बहुत कुछ निर्देशक के कला-बोध, सौन्दर्यबोध और जीवन-बोध को ही सूचित करता है। रंगकर्म में निर्देशक के इस महत्त्व के कारण ही उसे 'कैप्टन ऑफ दि शिप' कहा जाता है।

देखा जाए तो यूरोप में 19वीं शताब्दी से निर्देशक का महत्त्व बढ़ा और धीरे-धीरे रंग-कार्य में उसका स्थान बहुत प्रमुख हो गया, यहां तक कि नाटक और अभिनेता भी उसके आगे गौण पड़ने लगे। भारतीय परम्परा में निर्देशक की संकल्पना नहीं थी, यह तो पश्चिम के प्रभाव और समय की जरूरत के हिसाब से हमारे आधुनिक रंगमंच में समाता चला गया।

अभिनेता : अभिनेता भी रंगमंच का एक प्रमुख तत्त्व है। यह अपनी अभिनय-कला के माध्यम से नाटककार और निर्देशक के विचारों को सामने बैठे दर्शकों तक पहुंचता है। इसीलिए नाट्यकला को अभिनेता का माध्यम भी कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में आए 'अभिनय' शब्द में ही अभिनय की परिभाषा समाहित है- " 'अभिनय' शब्द में 'अभि' उपसर्ग है, जिसका अर्थ है- किसी विशेष दिशा की ओर, 'नय' का मतलब है- ले जाना। अर्थात् जो अपनी कला से दर्शकों को नाटक और स्वयं को किसी विशेष दिशा में ले जाए, उस कला का नाम 'अभिनय' है और कला का कलाकार 'अभिनेता' है।"⁷

रंगशिल्प : रंगमंच एक दृश्य-श्रव्य कला है और इस दृश्य-श्रव्यता को प्रभावी बनाने में रंगशिल्प का बहुत बड़ा योगदान रहता है। "रंगशिल्प नाटक के निर्देशक द्वारा स्वीकृत अर्थ-निर्णय के साथ समन्वित होकर एक समग्र-सम्पूर्ण भाववस्तु का निर्माण करता है, जिसका संप्रेक्षण ही पूरे प्रदर्शन-आयोजन का उद्देश्य रहता है।"⁸ रंगशिल्प के अंतर्गत दृश्य-विधान, रंगदीपन, रंगसंगीत, वेशभूषा तथा रूप-सज्जा को सम्मिलित किया जाता है। जब रंग-प्रस्तुति की आवश्यकतानुसार ये

⁷ लाल, डॉ. लक्ष्मीनारायण; रंगभूमि : भारतीय नाट्य सौन्दर्य; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; संस्करण 1989; पृ. 10

⁸ जैन, नेमिचंद्र; रंग-दर्शन; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 1996; पृ. 48-49

तत्त्व एकत्रित आते हैं तब दर्शकों को एक प्रभावी नाट्य-प्रस्तुति का आस्वाद लेने का अवसर प्राप्त होता है।

दृश्य-विधान: मंच पर सर्जित दृश्य-बंध, दृश्य-सज्जा या मंच-सज्जा, दृश्य-विधान के अंतर्गत आते हैं। दृश्यबंध केवल मंच पर जो रिक्तता होती है, उसे भरने का काम ही नहीं करता बल्कि रंग-प्रस्तुति के लिए आवश्यक वातावरण निर्मित करता है तथा संप्रेक्षण का माध्यम बन जाता है। दृश्य-रचना मात्र तकनीकी ज्ञान नहीं है, बल्कि कल्पनाशील, समझदारी और सूझ-बूझ भरा सृजन है। आज रंगमंच पर प्रमुखतः तीन प्रकार की दृश्य-सज्जा का उपयोग दिखाई देता है। चित्रांकित रंगसज्जा, प्रकृतिवादी दृश्यबंध, प्रतीक रंगसज्जा। नाटक की मांग और निर्देशक की संकल्पना के अनुसार ही दृश्य बंध का निर्माण किया जाता है।

रंगदीपन : 'रंगदीपन' का अर्थ प्रकाश-योजना या प्रकाश व्यवस्था से है। निर्देशक की रंग-संकल्पना के अनुसार प्रकाश-अभिकल्पक सही प्रकाश-योजना से दृश्य-सज्जा और रूप सज्जा में पूर्ण निखर लाता है। केवल मंच की वस्तुओं को उद्भासित करने में ही रंगदीपन का कार्य पूरा नहीं हो जाता बल्कि उसकी सार्थकता इस बात में भी है कि कब, किस वस्तु को कितना दिखाना है और किसे छिपाना है।

रंग संगीत : संगीत हमारे सांस्कृतिक परिवेश का एक अहम् हिस्सा रहा है। यह अपने आप में एक स्वतंत्र कला है, जिसका अपना शास्त्र भी है, परन्तु जब उसका उपयोग रंगमंच के संदर्भ में होता है, तब उसमें एक ऐसा लचीलापन आ जाता है जो शास्त्रीय नियमों के परे, प्रस्तुति की मांग के अनुसार उसका स्वरूप रचता चला जाता है। देखा जाए तो संस्कृत रंगमंच में संगीत को बड़ा महत्त्व प्राप्त था। यह दर्शकों के समक्ष नाटक आदि की भूमिका बांधने का काम करता था। लोक रंगमंच की कल्पना तो संगीत को छोड़कर की ही नहीं जा सकती। फिर धीरे धीरे हिंदी

रंगमंच पर भी संगीत का महत्त्व बढ़ने लगा। अब तो तकनीक से रंगमंच को प्रभावकारी बनाया जा रहा है। टेप रिकार्डर, माइक्रोफोन, लाउडस्पीकर जैसे ध्वनि-यंत्रों की उपलब्धि के बाद रंग-व्यापार में उनके उपयोग का स्वरूप व्यापक हो गया है और पार्श्व-ध्वनि, संगीत-योजना रंगमंच की एक विलक्षण कला के रूप में विकसित हुई है।

वेश-भूषा: संस्कृत रंगमंच में आहार्य के अंतर्गत वेश-भूषा को लिया गया है। इसमें पात्रों की वस्त्र-सज्जा और अलंकरण से संबंधित रंग-कार्य आते हैं। दर्शकों के सामने अभिनेता को नाटक के पात्र के रूप में उपस्थित होना पड़ता है और उसका यह कार्य वेश-भूषा के माध्यम से आसान हो जाता है। देश, काल परिवेश और जीवन की पहली पहचान पात्र द्वारा परिधान की गई वेश-भूषा ही होती है। कथानक के परिवेश तथा निर्देशक की रंग-कल्पना के अनुसार ही वेश-भूषा का चुनाव किया जाता है। रंगमंच के अन्य तत्त्वों के साथ सामंजस्य की स्थिति में ही वेश-भूषा सही रूप में नाटक में चित्रित जीवन और परिवेश की पहचान बनती है।

दर्शक : कोई भी कला अपने उद्देश्य में तब तक सफल नहीं हो सकती तब तक उसका रसास्वादन करने वाला, उसे परखने वाला, कोई सहृदय कला-प्रेमी उसे प्राप्त नहीं होता। इस संदर्भ में रंगकार्य भी अपवाद नहीं है। प्रदर्शनकारी कला होने के कारण रंगमंच के लिए दर्शक का बड़ा महत्त्व है। रंगकार्य का पूरा प्रयोजन ही दर्शक को ध्यान में रखकर किया जाता है। “संस्कृत नाटक और रंगमंच का भी चरम उद्देश्य था दर्शकों को लोकोत्तर आनन्द देने अर्थात् रसानुभूति कराने का धर्म।”⁹ दर्शकों के व्यक्तित्व ने हर युग में नाटक की प्रकृति और प्रदर्शन की पद्धति को प्रभावित किया। वह केवल द्रष्टा ही नहीं होता, वह एक संवेदनशील व्यक्ति भी है जो समूह के अंग के रूप में स्वतंत्र तथा कल्पनाशील है। वास्तव में किसी भी प्रस्तुति को सफल या असफल बनाने में इस

⁹ लाल, डॉ. लक्ष्मीनारायण; रंगमंच और नाटक की भूमिका; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; संस्करण 1965; पृ. 67

दर्शक वर्ग की बड़ी भूमिका है।

देखा जाए तो रंगमंच एक युग विशेष की जनरुचि तथा तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर निर्मित होता है। प्रत्येक युग की रंगमंच परम्परा अपने ही काल में कुछ ऐसी रूढ़ियाँ व मान्यताएं स्थापित कर जाती है, जिनके रंगसूत्र कभी भी पूरी तरह लुप्त नहीं होते। महाकाव्य की भांति नाटक और रंगमंच की परम्परा भी मानव जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक संस्कारों की वाहक है। कई रंग परम्पराएं मिल कर भारतीय रंगमंच का स्वरूप बनाती हैं। इसमें स्थानगत, समयगत, शैलीगत तथा कथ्यगत विविधता है तो आन्तरिक एकता का सूत्र भी है। इसी को आत्मसात करते हुए भारतीय रंगमंच की यह परम्परा संस्कृत रंगमंच, लोकरंगमंच तथा पारसी रंगमंच से होते हुए हिंदी रंगमंच तक आती है। हिंदी के साथ-साथ अन्य भाषाओं में भी इसने अपना स्थान बनाये रखा है।

अब हम संस्कृत रंगमंच की बात करें तो यह परम्परा हजारों वर्ष पुरानी है। संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में नाटक के उद्भव की रोचक कथाएं मिलती हैं। कुछ विद्वानों ने तो धार्मिक उत्सवों, वेद-पूजा, कर्मकांडों, वैदिक संवादों और सूक्तियों में संस्कृत रंगमंच की उत्पत्ति मानी है। जैसे 'ऋग्वेद' में आये अनेक पुरुरवा-उर्वशी, यम-यमी, इन्द्र-अदिति-वामदेव, इन्द्र-मरुत, अगस्त्य-लोपामुद्रा आदि संवाद सूक्त प्राचीन नाट्य का ही रूप माने गए हैं। इन संवादों में हम नाटक के विकास का चिह्न पाते हैं। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं संवादों से प्रेरणा ग्रहण कर लोगों ने नाटक की रचना की और धीरे-धीरे नाट्यकला का विकास हुआ। तभी भरतमुनि द्वारा 'नाट्यशास्त्र' में उसे शास्त्रीय रूप दिया गया। वेदों, नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों, पुराणों, काव्यों, नाटकों, वाल्मीकि-रामायण, महाभारत, बौद्ध और जैन धर्म ग्रंथों आदि में भी नाट्यकला की समृद्ध रंगमंच के प्रारम्भिक रूप का स्पष्ट संकेत मिलता है।

‘नाट्यशास्त्र’ पहली अथवा दूसरी शती ई. में संकलित हुआ समझा जाता है। ‘नाट्यशास्त्र’ में वर्णित कथा के अनुरूप ही नाटक के लिए शिव और पार्वती ने अभिनय के लिए तांडव और लास्य मिलाया तथा विष्णु ने उसे नाटकीय शैली दी और भरतमुनि ने इसका प्रचार किया।¹⁰ भरत ने ‘नाट्यशास्त्र’ के प्रथम अध्याय में नाट्य को तीनों लोकों के विशाल भावों का अनुकीर्तन कहा है। भरत के अनुसार ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, योग एवं कर्म नहीं है जो नाटक में दिखाई न पड़े। “इस शास्त्र का उद्देश्य ‘नाट्य’ का नियमन मात्र नहीं है अपितु व्यापक जीवन के आचार-विचार एवं सार का परिष्करण भी है। बहुजातीयता और सांस्कृतिक वैविध्य से युक्त भारतीय समाज का उपकार इस शास्त्र का लक्ष्य है।”¹¹

‘नाट्यशास्त्र’ में नाट्योत्पत्ति का संदर्भ है कि ब्रह्मा के आदेश पर भरतमुनि ने ऋग्वेद से पाठ, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से संगीत और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्य रचना की, जिसे पांचवा वेद कहा गया क्योंकि अन्य वेदों के विपरीत यह सभी वर्णों के लिए था।¹² भरत ने स्वयं इसे पंचम वेद के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए तीन बातों पर जोर दिया है। “एक तो यह कि चूँकि शुद्र तथा वन्य जातियों के लोग वेद-पाठ से वंचित थे, इसलिए ऐसे वेद की आवश्यकता पड़ी, जो सभी वर्गों की जनता के लिए उपादेय हो। दूसरी बात यह कि नाट्य में ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का संग्रह किया गया। भरत की तीसरी स्थापना यह थी कि नाट्य सभी प्रकार की कलाओं, शिल्प तथा ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण पंचम वेद कहलाने योग्य है।”¹³

‘नाट्यशास्त्र’ में हमें नाट्यमंडप के प्राचीन स्वरूप का भी संकेत मिलता है। इस दृष्टि से

¹⁰ कुमारी वी.एल, डॉ. रीना; हिंदी नाटक एवं रंगमंच; विद्या प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2019; पृ. 36

¹¹ त्रिपाठी, डॉ. वशिष्ठनारायण; भारतीय लोकनाट्य; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2001; पृ. 26

¹² <https://Rangwimarsh.blogspot.com>

¹³ माथुर, जगदीशचंद्र; परम्पराशील नाट्य, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 2006; पृ. 15

नाट्यशास्त्र के अध्याय दो और तीन महत्वपूर्ण हैं। इसके दूसरे अध्याय में संस्कृत-काल के शास्त्रीय रंगमंच का विवेचन किया गया है। इसमें विभिन्न आकर-प्रकार और माप वाले नाट्यमंडपों के निर्माण के लिए अलौकिक वास्तुकार विश्वकर्मा द्वारा निर्देशित नियमों का उल्लेख है।¹⁴ भरत ने इसमें तीन प्रकार के नाट्यमंडपों का विधान बताया है। पहला विकृष्ट (आयताकार), दूसरा चतुरस्र (वर्गाकार) तथा तीसरा त्रयस्र (समबाहु त्रिकोण)। भरत ने इन तीनों के फिर तीन-तीन भेद किए हैं: ज्येष्ठ (देवताओं के लिए), मध्यम (राजाओं के लिए) तथा अवर अथवा कनिष्ठ अथवा कनीयस (औरों के लिए)।¹⁵ उस समय नाप की इकाई हस्त (18 इंच) थी। इनकी माप के विषय में दिए गए निर्देशों के अनुसार “विकृष्ट अवर की लम्बाई 32 हस्त होनी चाहिए और चौड़ाई 16 हस्त। विकृष्ट मध्यम की लम्बाई 64 हस्त और चौड़ाई 32 हस्त होनी चाहिए। परन्तु विकृष्ट ज्येष्ठ की लम्बाई 108 हस्त और चौड़ाई 64 हस्त होनी चाहिए। अवर परिमाण के चतुरस्र और त्रयस्र की भुजाएँ 32-32 हस्त लम्बी होनी चाहिए। मध्यम परिमाण में यह लम्बाई 64 हस्त तथा ज्येष्ठ में 108 हस्त होनी चाहिए।”¹⁶

इतना ही नहीं इस अध्याय में भूमि-पूजा के लिए उपयुक्त नक्षत्रों के बारे में भी भरत बताते हैं। साथ ही ध्वनि के लिए आवश्यक दिशा-निर्देश, छत-निर्माण, लकड़ी की सजावट आदि के बारे में भी लिखते हैं। ‘नाट्यशास्त्र’ के अध्याय तीन में रंगमंच के देवताओं की चर्चा से लेकर उनकी पूजा की विधियों व नाट्यशाला को शुद्ध व जाग्रत रखने के उपायों आदि का उल्लेख करते हैं। भरत रंगमंच के 45 देवताओं की पूजा के साथ ही साथ राजा और प्रजा के कल्याण की कामना भी करते हैं। भरत ने नाट्यशाला को यज्ञ के समान श्रेष्ठ बताया है और अभिनेताओं तथा नाट्य के सम्बन्ध सभी व्यक्तियों के लिए उसके प्रति निष्ठा रखने का विधान किया है।

¹⁴ शर्मा, एच.वी.; रंग स्थापत्य; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 2012; पृ. 24

¹⁵ वही, पृ. 25

¹⁶ वही, पृ. 25

संस्कृत का रंगमंच शास्त्रबद्ध था जिसमें नाट्य प्रकारों, रंग स्थल, अभिनय, मंच सज्जा, रंगोपकरणों के साथ शैली की भी परिभाषा निर्धारित थी। 'रस' इसका केंद्रीय तत्व था। संस्कृत रंगमंच की इस लम्बी नाट्य परम्परा में शूद्रक, भवभूति, कालिदास, हर्ष, विशाखदत्त, भास आदि उल्लेखनीय नाटककार रहे हैं। संस्कृत नाटकों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सामान्यतः उनका अभिनय किसी देवोत्सव, विवाहोत्सव, विजयोत्सव या त्यौहारों-पर्वों के समय हुआ करता था। उनके अभिनय के लिए किसी देव मंदिर या राजप्रासाद में अस्थायी व्यवस्था कर ली जाती थी। नाट्य रूढ़ियों का खास पालन किया जाता था। इसलिए संस्कृत रंगमंच में भोजन, शयन, मृत्यु, यात्रा, युद्ध, वस्त्र-धारण या चुम्बन जैसे अप्रिय तथा अभद्र व्यवहार निषिद्ध थे। वहाँ चमत्कार प्रदर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

संस्कृत रंगमंच में दो प्रकार की नाट्य धर्मिताएँ भी प्रचलित थीं। पहली नाट्यधर्मी और दूसरी लोकधर्मी। भरत ने प्रथम को 'आभ्यंतर' और दूसरे को 'बाह्य' संज्ञा दी है। पात्र के अनुसार वेश-भाषा-वय-विधि-प्रकृति-मंच आदि का नियोजन नाट्यधर्मी कहलाता है जहाँ भरतोक्त नाट्यशैलियों का विधिपूर्वक प्रयोग किया जाता है। अर्थात् जो विशिष्ट कला और शास्त्र से निर्धारित है, वह नाट्यधर्मी है। जबकि "अभिनय के लोकजीवन और लोक व्यवहार से संबद्ध यथार्थोन्मुख रूप को लोकधर्मी माना गया है। इस प्रकार लोकधर्मी का सम्बन्ध लोकजीवन को सूक्ष्म कलात्मकता में ढालने से ज्यादा उसके यथार्थ रूप को प्रस्तुत करने से है।"¹⁷ लोकधर्मी के संदर्भ में डॉ. गिरीश रस्तोगी ने भी लिखा है कि "जो मानव स्वभाव है, वह लोकधर्मी है... इस प्रकार के नाटकों में लोकवार्ता और लौकिक क्रियाओं, चेष्टाओं, स्वाभाविक अभिनय और अनेक प्रकार के स्त्री-पुरुष पात्रों के होने की बात कहते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि उनके अभिनय में अंग-लीला वर्णित है। भरत मुनि के इतने ही संकेत लोकनाट्य स्वरूपों को विशिष्टता,

¹⁷ त्रिपाठी, डॉ. वशिष्ठनारायण; भारतीय लोकनाट्य; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2001; पृ. 10

उनके स्वभाव और स्वरूप, परम्परा और प्रभावशीलता को व्यक्त कर देते हैं”¹⁸ देखा जाए तो आधुनिक भारतीय रंगमंच में अल्काजी, हबीब तनवीर, पणिक्कर आदि के नाट्य-प्रयोग लोकधर्मी परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

साक्ष्य बताते हैं कि सन् एक हजार तक कुछ कारणों से संस्कृत रंगमंच का धीरे-धीरे अवसान हो गया। जैसे- अपभ्रंश भाषाओं के विकास के साथ ही संस्कृत का क्षेत्र संकुचित हो गया। फिर अपभ्रंश भाषाओं में भी साहित्यिक रचना होने लगी और क्षेत्रीय भाषाओं में भी रंगमंच का विकास हुआ जिसने संस्कृत रंगमंच की विशेषताओं को भी अपनाया।¹⁹ जनभाषा में होने के कारण इन नाट्यरूपों को अधिक लोकप्रियता मिली। कुछ विद्वान संस्कृत रंगमंच के अवसान के लिये राजनीतिक और सामाजिक कारणों को भी जिम्मेदार ठहराते हैं। सैकड़ों वर्षों तक संस्कृत रंगमंच की गौरवमयी परम्परा के उपरांत मध्यकाल में भारतीय रंग-परम्परा केवल लोक नाटकों के रूप में ही जीवित रह सकी।

भारतीय रंगमंच की दूसरी परम्परा लोकनाट्यों की रही है। इसका संबंध विशिष्ट शिक्षित समाज से न होकर सर्वसाधारण के जीवन से है। इनमें जनविश्वासों और जन रुचियों की गहरी पहचान है। लोकनाटक के संदर्भ में जगदीशचंद्र माथुर लिखते हैं, “लोकनाटक शब्द अंग्रेजी के ‘फोक’ ड्रामा से उधार लिया गया है। ‘ऑक्सफोर्ड कम्पेनियन ऑव ड्रामा’ के अनुसार ‘फोक प्ले’, यानी लोकनाटक ऐसा नाट्य-मनोरंजन है जो ग्रामीण उत्सवों पर ग्रामवासियों द्वारा स्वयं प्रस्तुत किया जाता है और प्रायः अशिष्ट और देहाती होता है। योरोप के लोक-नाटक आदिम जीवन में लोकोत्सवों में प्रारम्भ हुए थे। उनमें मृत्यु, पुनर्जन्म, तथा स्थानीय महापुरुषों के विवरण,

¹⁸ रस्तोगी, डॉ. गिरीश; बीसवीं सदी का हिन्दी नाटक और रंगमंच; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली ; संस्करण 2004; पृ. 18

¹⁹ <https://Rangwimarsh.blogspot.com>

नटों के खेल इत्यादि होते थे। इंग्लैंड में 'ममर्स प्ले' को लोकनाटक कहा जाता है।”²⁰ देखा जाए तो लोक की भारतीय अवधारणा व्यापक है जबकि फोक बेहद सीमित है। जगदीशचंद्र माथुर के अनुसार भारत की क्षेत्रीय नाट्यशैलियाँ पश्चिम के लोक-नाटक से कहीं ऊँचे स्तर के प्रदर्शन और साहित्य से सम्पन्न है। उनमें कई शैलियाँ तो कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। इसलिए वे अपनी पुस्तक 'परम्पराशील नाट्य' में लोकनाटकों को 'परम्पराशील नाट्य' कहने पर बल देते हैं।²¹

भले ही लोक रंगमंच और संस्कृत रंगमंच का विकास एक दूसरे के समानान्तर हुआ है तथा रंग रूढ़ियों के स्तर पर भी दोनों में गहरी समानता दिखाई देती है। यह जरूर है कि लोक रंगमंच का अस्तित्व संस्कृत नाटकों से भी पूर्व का होगा। इसलिए भरत के 'नाट्यशास्त्र' में लोक-रंगमंच का उल्लेख सर्वत्र प्राप्त है। इस संदर्भ में वशिष्ठनारायण त्रिपाठी लिखते हैं, “यह अवश्य है कि दसवीं शताब्दी के आस-पास लोकनाट्य रूप पूरे भारत में ज्यादा उभरे हुए दिखाई देते हैं और क्रमशः संस्कृत नाटकों का स्थान लेते दिखाई देते हैं। किन्तु इससे पूर्व अर्थात् संस्कृत नाटकों के जन्म से पूर्व और संस्कृत नाटकों के समानान्तर इनका अस्तित्व रहा है।”²² लोक रंगमंच की इस प्राचीन परम्परा से प्रेरणा लेकर ही साहित्यिक रंगमंच का उद्भव हुआ।

हम सब जानते हैं कि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र को 'पंचम वेद' कहा है। लेकिन जगदीशचंद्र माथुर परम्पराशील नाट्य को पंचम वेद कहने के पक्ष में हैं और लिखते हैं, “यद्यपि भरत के नाट्य-शास्त्र में सभी नाट्य को सोद्देश्य एवं धर्म और नीति के सन्देश का वाहक माना गया है, तथापि संस्कृत-नाटककारों ने प्रायः इस कर्तव्य को निबाहने का प्रयास नहीं किया। परम्पराशील भाषा-नाटकों ही में भरत द्वारा निर्दिष्ट नाट्य-उद्देश्य को सार्थक करने की चेष्टा की गई।

²⁰ माथुर, जगदीशचंद्र; परम्पराशील नाट्य, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 2006; पृ. 17

²¹ वही, पृ. 17

²² त्रिपाठी, डॉ. वशिष्ठनारायण; भारतीय लोकनाट्य; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2001; पृ. 9

अतः परम्पराशील नाट्य ही 'पंचम वेद' कहलाए जाने के अधिकारी हैं।”²³ परम्परागत नाट्य में कई ऐसी विशेषताएँ हैं, जो भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों को एक-दूसरे से बांधती हैं। इसका दूसरा महत्त्व इस बात में है कि नागरिक नाट्य की अपेक्षा वह देश की असंख्य जनता के कहीं अधिक समीप है।

लोक नाट्यों की भी मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ हैं। पहली धार्मिक जिसमें रासलीला, रामलीला, कुट्टियाट्टम, अंकिया नाट, यक्षगान जैसी शैलियाँ हैं। इनके कथानक का आधार और प्रक्रिया धार्मिक हैं। दूसरा है लौकिक, जिनमें स्वांग, ख्याल, नौटकी, नाचा, माच जैसी शैलियाँ मिलती हैं। इनके कथा स्रोत सामान्य जन जीवन से हैं। यह सभी लोकनाट्य अपने-अपने क्षेत्रों में आज भी काफी लोकप्रिय हैं। संगीत, नृत्य, संवाद तीनों ही लोकनाट्य शैली के अनिवार्य अंग हैं और इनके सम्मिश्रण से ही सौन्दर्य-बोध और ज्ञान प्राप्त होते हैं। लगभग प्रत्येक लोकनाटक में उसका प्रारम्भिक अंश, जिसे नाट्यशास्त्र में पूर्वरंग कहा गया, विशेष महत्त्व रखता है। लोकनाट्यों में सूत्रधार और विदूषक अपना खास महत्त्व रखते हैं। “पुराकथाओं आदि पर आधारित मंदिर, मण्डम या अन्यत्र प्रस्तुत होने वाले धार्मिक नाटकों में सूत्रधार का विकास होता है तथा लोक गाथाओं आदि से सम्बन्धित लौकिक गाथाओं में विदूषक विकसित होता हुआ दिखाई देता है।”²⁴

19 वीं सदी में एक भिन्न राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था के आगमन और उसके वर्चस्व ने भारतीय संस्कृति और लोक नाटकों को प्रभावित किया। साथ ही निरंतर पुनरावृत्ति, प्रेरणा की कमी, लौकिक नाटकों के कथानक की आवृत्ति और कवायद में तब्दील होते चले जाने की वजह से इस रंगमंच में एक ठहराव सा आया। लेकिन फिर भी यह धारा पुर्णतः

²³ माथुर, जगदीशचंद्र; परम्पराशील नाट्य, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 2006; पृ. 8

²⁴ त्रिपाठी, डॉ. वशिष्ठनारायण; भारतीय लोकनाट्य; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2001; पृ. 10

समाप्त नहीं हुई है। आज भी भारत के ग्रामों में यह आधुनिकता से प्रभावित होकर अपने अस्तित्व को बचाए हुए है। ये लोकनाट्य शैलियाँ निरंतर प्रवाहित होने वाली एक ऐसी जीवंत धारा है जिसका हिंदी रंगमंच और पारसी रंगमंच के इतिहास में बड़ा महत्त्व है।

पारसी रंगमंच या थियेटर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकसित हुआ और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक लोगों के मन-मस्तिष्क पर छाया रहा। विस्तृत अर्थ में देखा जाए तो पारसी थियेटर का अभिप्राय है, “पारसी जाति द्वारा चलाये और बनवाये गये नाट्यगृह, पारसी नाटककार, पारसी नाटक, पारसी नाट्यशालाओं के रंगमंच, पारसी नाटक मण्डलियाँ, पारसी अभिनेता और पारसी निर्देशक आदि-आदि”²⁵ उस समय ‘पारसी ड्रामेटिक कोर’, ‘पारसी थियेट्रिकल कमिटी’, ‘पारसी थियेटर’ शीर्षकों से तत्कालीन बम्बई के समाचार-पत्रों में पारसी नाटकों के विज्ञापन छपे थे। ‘इन्दरसभा’, ‘खुरशेद सभा’, ‘फ़रूख सभा’, ‘हवाई मजलिस’, ‘बेनज़ीर-बदरेमुनीर’ आदि पारसी रंगमंच के बड़े सफल नाटकों में से थे। इस रंगमंच का बम्बई और कलकत्ता में बोलबाला अधिक रहा। तत्कालीन समय में पारसी रंगमंच के दो रूप थे। पहला रूप बम्बई और उसके आसपास अपने नाटक प्रदर्शित करता था और समय-समय पर बम्बई से बाहर अन्य प्रान्तों में भी अभिनय किया करता था। इसके कर्ता-धर्ता और मालिक केवल पारसी थे। दूसरा रूप वह था जिसके द्वारा अन्य प्रांतीय मण्डली मालिक अपनी मण्डलियों का अभिनय दिखाते फिरते थे।

पारसी व्यवसायिक नाटक कम्पनियां लगभग सारे भारत में भ्रमण कर अपने नाटकों का प्रदर्शन करती रहीं। नाटकों का अभिनय पर्याप्त रिहर्सलों के बाद किसी निर्देशक की देख-रेख में ही होता था। धन प्राप्ति के हेतु ये कम्पनियां हर संभव प्रयास करने को व्यग्र रहती थीं, भले ही उससे साहित्यिकता का हास हो या गलत साधनों का आश्रय लेना पड़े। इनके अभिनय में उछल-कूद,

²⁵ गुप्त, सोमनाथ; पारसी थियेटर उद्भव और विकास; लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 2015; पृ. 28

चिल्लाना, हास्य में अश्लीलता, संवादों में शेरबाजी आदि का बड़ा जोर रहता। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने इस ओर इंगित करते हुए लिखा है, “काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब ‘शकुन्तला’ नाटक खेला और उसका धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने लगा और ‘पतली कमर बल खाए’ यह गाने लगा तो डा. थीबो, बाबू प्रमदा दास मित्र, प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता, यह लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं”²⁶ पारसी रंगमंच को संचालित करने वाली सतही दृष्टि की ओर संकेत डॉ. नगेन्द्र ने भी किया है। वे लिखते हैं, “सचमुच में उस समय कला के स्थूल रूप से ही परिचय था। उसके सूक्ष्म रूप से वे अनभिज्ञ थे। इसके परिणाम स्वरूप वे लोग अनेक प्रकार की ऐतिहासिक भूलें करते थे, उनका हास्य बड़ा भोंड़ा था, उनके अभिनय में अतिरंजना होती थी, कथोपकथन में व्यर्थ की बम्बास्ट और माईक्रोफोन का उपयोग न करने की वजह से प्रत्येक अभिनेता को अस्वाभाविक स्तर में बोलना पड़ता था।”²⁷

यह सही है कि भारत में पारसी रंगमंच ने अपनी व्यवसायिक दृष्टि, असाहित्यिकता और अतिरंजनपूर्ण शैली के साथ विकसित हुआ। इसके बावजूद भी यह जनसामान्य को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुआ। क्योंकि एक तो तत्कालीन समय तक सिनेमा का उद्भव नहीं था और मनोरंजन का कोई खास विकल्प नहीं था। दूसरा इस रंगमंच में दर्शकों को कई तरह के चमत्कार, जादूदेखने को भी मिलते थे जो उनके लिए किसी पहली से कम नहीं थे। इसके अतिरिक्त भी पारसी रंगमंच की कुछ अन्य विशेषताएँ थीं जो दर्शकों का मन मोह रही थीं। जैसे पदों का नायाब प्रयोग, संगीत, नृत्य और गायन का प्रयोग, वस्त्र सज्जा, लम्बे संवाद आदि।

²⁶ हरिश्चंद्र, भारतेन्दु; ‘नाटक’; महेश आनंद; रंग दस्तावेज: सौ साल-1; राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली; संस्करण 2007; पृ. 68

²⁷ डॉ. नगेन्द्र; आधुनिक हिंदी नाटक; साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा; संस्करण 2004; पृ. 156

देखा जाए तो पारसी थियेटर के विकास में उनके द्वारा निर्मित नाट्यशालाओं (जैसे इरास थियेटर, एडवर्ड थियेटर, एम्पायर थियेटर, टिबोली थियेटर, रायल ओपेरा हाउस, विक्टोरिया थियेटर, हिंदी नाट्यशाला आदि) का बड़ा महत्त्व था। इन नाट्यशालाओं में नाटक रात 9 या 10 बजे शुरू होकर सुबह 3-4 बजे तक चलते थे। नाटक की शुरुआत सामूहिक मंगलाचरण से होती। संगीत के लिए तबला, हारमोनियम, वायलिन आदि का भी प्रयोग होता था। इनके सफल नाटक एक-एक महीने तक चलते थे।

चूँकि पारसी बाहर से आकर भारत में बसे थे। इसलिए पारसी थियेटर के उद्भव के समय पारसियों में अपने देश के इतिहास के प्रति एक मोह था और अपने धर्म के प्रति एक भाव भरी श्रद्धा थी। कैखुशरु कावराजी ने इस भाव को पहचानते हुए 'बेजन-मनीजेह', 'जमशेद' और 'फरेदून' नाटकों की रचना की थी। पारसी जनता ने इनके इस साहस का स्वागत किया था। पारसी अंग्रेजों के रहन सहन से काफी प्रभावित थे और यथासंभव उनकी नकल भी करते थे। देखा जाए तो नाटकों में भी अधिकांश अंग्रेजी नाटकों के रूपांतर पारसी रंगमंच पर खेले गये। कुछ नाटकों की कथावस्तु उपन्यासों से भी ली गई। फिर जब पारसी मण्डलियों ने हिंदू दर्शकों की रूचि की ओर ध्यान दिया तो 'हरिश्चन्द्र', 'गोपीचन्द्र', 'महाभारत', 'रामलीला', 'भक्त प्रह्लाद' आदि नाटक लिखवाये गये और अभिनीत किये गये। राष्ट्र-प्रेम और धर्म-प्रेमपरक कथ्यों पर भी अच्छे-अच्छे नाटक अभिनीत किये गये। जैसे 'वतन' नाटक इस धारा का बड़ा प्रभावशाली नाटक था। 'जख्मे पंजाब' को तो सरकार ने कई बरस तक बंद रखा।²⁸..

पारसी रंगमंच का मूलभूत उद्देश्य सस्ता मनोरंजन देकर धन कमाना था। इसका आरम्भ भारत में गुजराती भाषा में हुआ। यह रंगमंच मनोरंजक, लौकिक होने के साथ-साथ श्रृंगारिक,

²⁸ गुप्त, सोमनाथ; पारसी थियेटर उद्भव और विकास; लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 2015; पृ. 201

बनावटीपन से युक्त तथा उपदेश देने वाला भी था। हिंदी रंगमंच को अपने विकास के आरंभिक चरण में ही पारसी रंगमंच से सामना हुआ। जिसका प्रभाव यह रहा कि स्वतंत्रता से पूर्व का लगभग सम्पूर्ण हिंदी नाट्य-सृजन इसके प्रभाव से आक्रांत रहा। पारसी रंगमंच की भर्त्सना करने वाले स्वयं प्रसाद के नाटक एक भिन्न स्तर पर उससे विमुख न रह सके। इस विषय में नेमिचंद्र जैन के विचार उल्लेखनीय हैं, “प्रसाद के नाटक एक भिन्न स्तर पर पारसी रंगमंच के युग की ही चरम उपलब्धि के सूचक हैं। प्रसाद के नाटक पारसी रंगमंच की बुनियाद पर ही हैं। उनका कार्य-व्यापार का विन्यास, दृश्य-संयोजन, रूपबंध, सब कुछ पारसी रंगमंच की रूढ़ियों और व्यवहारों से निर्धारित हुआ है। प्रसाद का महान योगदान इसमें है कि अपने नाटकों में उन्होंने एक भिन्न प्रकार की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना का अन्वेषण किया, नाटक और रंगमंच दोनों को सर्जनात्मक स्तर प्रदान किया और सार्थक बनाया।”²⁹

देखा जाए तो हिंदी नाट्य-परम्परा का विकास 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ है। साहित्य के आलोचकों ने भारतेंदु-युग से हिंदी नाटक और रंगमंच का स्वरूप निर्धारित किया है। इससे पूर्व हिंदी का कोई रंगमंच नहीं था। “भारतेंदु हिंदी के पहले नाटककार थे जिन्होंने न केवल नाट्य-रचना की अपितु अपने समकालीन पारसी रंगमंच के असाहित्यिक एवं अरुचिकर मनोरंजन के सस्ते साधन से विमुख कर साहित्यिक, सुरुचिपूर्ण एवं नागरिक रंगमंच की ओर दर्शकों की रुचि को मोड़ने का प्रयास किया।”³⁰ भारतेंदु के बाद लगभग चालीस सालों तक हिंदी साहित्यिक नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। बाद में प्रसाद युग और प्रसादोत्तर युग में हिंदी रंगमंच के विकास को एक दिशा देने का कार्य हुआ। इस दिशा में जयशंकर प्रसाद, रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अशक, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि नाटककारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। वहीं

²⁹ जैन, नेमीचंद्र; ‘हिंदी रंगमंच : परम्परा और प्रयोग के सम्बन्ध-सूत्रों का अन्वेषण’; नटरंग; अंक 5; 1966; पृ. 11

³⁰ बोरा, राजकमल; नारायण शर्मा (सं.); हिंदी नाटक और रंगमंच; पंचशील प्रकाशन, जयपुर, संस्करण 1988; पृ. 151

दूसरी तरफ विभिन्न लोकनाट्यों के रूप क्षेत्रीयता के आधार पर विकसित हो रहे थे। नागरिक रंगमंच के नाम पर इप्ता, पृथ्वी थियेटर आदि इने-गिने प्रयास ही हमारे सामने थे।

पारसी थियेटर के मुकाबले इप्ता-रंगमंच विषय-वस्तु, रंगशिल्प और उद्देश्य- सभी दृष्टियों से एक ऐसा रंगमंच था जिसने जनता की आवाज को उठाया तथा लोककलारूपों को पुनर्जीवित और पुनर्स्थापित करने का काम भी किया। उस समय इप्ता से ख्वाजा अहमद अब्बास, पं. रविशंकर, विमल राय, बलराज साहनी, भीष्म साहनी, बलवंत गार्गी, दीना पाठक, मोहन सहगल, उत्पल दत्त, नेमिचंद्र जैन, शान्ता गाँधी, शबाना आजमी आदि चर्चित लोग जुड़े हुए थे।

आजादी के बाद हिंदी प्रदेश में नए रंग-आन्दोलन ने हिंदी रंगमंच को समृद्ध करने के साथ ही एक नई दिशा भी दी। खास तौर पर छठे दशक के बाद रंगमंच की प्रयोगशीलता नया रूप धारण करने लगी। इस दिशा में जगदीश चंद्र माथुर, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, शंकर शेष, लक्ष्मीनारायण लाल, हबीब तनवीर, सुरेन्द्र वर्मा, मणि मधुकर आदि के साथ-साथ हिंदीतर भाषी विजय तेंदुलकर, बादल सरकार, गिरीश कर्नाड, वसन्त कानेटकर, आद्य रंगाचार्य, उत्पल दत्त आदि की सराहनीय भूमिका रही है। इन्होंने नाटक के कथ्य और शिल्प परक अनेक नवीन प्रयोग किए।

नाटक में रंग शिल्प को समृद्ध बनाने के उद्देश्य से संस्कृत, लोकनाट्य और पश्चिमी रंगशैली के सार्थक रंगतत्त्वों को अंगीकार करने के प्रयास हुए। नाटक और रंगमंच के प्रति इन नाटककारों के नूतन कला बोध ने समकालीन हिंदी रंग निर्देशकों का मार्ग भी प्रशस्त किया। लेकिन आज हिंदी के रंगमंच को दोहरी चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। एक तरफ तो धारावाहिकों और मीडिया की चुनौती है तो दूसरी तरफ प्रस्तुति के खर्चों में भी अत्यधिक वृद्धि हुई है। आज आवश्यकता इस बात की है कि कैसे रंगमंच इन चुनौतियों से सामना कर सकेगा, इस

बात का समाधान ढूँढना होगा।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि रंगमंच एक ऐसी सर्जनात्मक, कलात्मक, प्रदर्शनकारी कला है जो जीवन के विविध अनुभवों को रूपायित करते हुए मनोरंजन करने के साथ-साथ जन-मानस का परिष्कार भी करती है। यह एक सामूहिक तथा संश्लिष्ट कला है। भारत में रंगमंच की परम्परा संस्कृत काल से ही विद्यमान है। यह हमारे लोक जीवन की धूरी पर लगातार घूमती आ रही है।

आज का रंगमंच भले ही तकनीक से पूर्ण है लेकिन उसके सामने कुछ चुनौतियाँ भी हैं। आज रंगमंच का तात्पर्य केवल नाट्य लेख के मंचन के स्थान तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसके व्यापक स्वरूप के अंतर्गत नाटक, निर्देशक, अभिनेता, रंगदीपन, संगीत, वेश-भूषा, दर्शक आदि को समाहित किया गया है। ये सारे तत्त्व मिलकर ही रंगमंच को सार्थक करते हैं और साथ ही अपनी स्वतंत्र अनुभूति भी कराते रहते हैं।

2.2 समकालीन हिंदी रंगमंच : विविध प्रयोग

‘समकालीन’ का सामान्य अर्थ है एक ही समय में रहने वाला या समान युग में रहनेवाला। जैसे कि एक ही समय के व्यक्तियों या रचनाकारों को समकालीन कहा जाता है, वैसे ही समय के बोध को व्यक्त करने वाली कृति भी समकालीन कही जाती है। वही रचनाकार समकालीन कहलाता है जो अपने समाज के यथार्थ को व्यक्त करे। अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक समस्याओं का समग्र चित्रण ही रचनाकार का समकालीन बोध है। देखा जाए तो समकालीनता में वर्तमान बोध के साथ ही अतीत और भविष्य का विवेकसम्मत बोध होता है। मनुष्य के चिंतन एवं कर्म से जुड़ा हुआ यह वह बोध है जो आधुनिक मनुष्य के जीवन, उसकी दृष्टि, परिवेश तथा यथार्थ से संबंधित है। डॉ. सुखबीर सिंह लिखते हैं,

“समकालीनता एक व्यापक एवं बहुआयामी शब्द है और आधुनिकता का आधार तत्व है। जो समकालीन है, वह आधुनिक भी हो, यह आवश्यक नहीं है किन्तु जो आधुनिक चेतना से संवलित दृष्टि है, वह निश्चित रूप से समकालीन भी होती है।”³¹

‘समकालीन’ शब्द इस बात का सूचक है कि प्रस्तुत कला समसामयिक सन्दर्भों से जुड़ी हुई है। यह युग-विशेष के सन्दर्भों के अनुसार बदलती हुई चेतना या मानसिकता की भी द्योतक है। स्थायी जीवन-मूल्यों की उपस्थिति के कारण यह कला काल की सीमाओं को भी लाँघ जाती है। समकालीनता की इस परिभाषा के आधार पर समकालीन हिंदी रंगमंच से हमारा तात्पर्य उस रंगमंचीय क्रियाकलाप से है जहाँ से समसामयिक सन्दर्भों से जुड़ने के साथ-साथ रंगमंच में एक नयी रंग-चेतना का, रंग-प्रस्तुतीकरण में एक नयी दृष्टि का आरंभ होता दिखायी देता है। यह बात ठीक है कि कोई भी प्रवृत्ति केवल एक दिन में ही निर्मित नहीं होती। उसके बनने में बीते युग की परिस्थितियों का भी हाथ रहता है तभी वह अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त करती है। हिंदी का समकालीन रंगमंच भी इसका अपवाद नहीं है।

सामाजिक दायित्व के प्रति कलात्मक सजगता, निर्देशक का महत्त्वपूर्ण होना, सर्जनात्मक रंग-दृष्टि, दर्शक का बदलता स्वरूप, तकनीकी विस्तार के अंतर्गत पर्दे का खत्म होना, प्रकाश व्यवस्था, रंग-संगीत के बदलते आयाम, यंत्र चालित मंच, संचार माध्यमों का प्रभाव जैसे कारक तत्वों के आधार पर हम समकालीन हिंदी रंगमंच का विकास तीन चरणों में देख सकते हैं- प्रथम चरण (1942- 1959), दूसरा चरण (1959- 1982) और तीसरा चरण (1982- अब तक)। 1942 से 21वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक आते-आते हिंदी रंगमंच पर युगीन सन्दर्भों से जुड़ते हुए कई प्रयोग हुए हैं। इस प्रक्रिया में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक

³¹ मिश्र, डॉ. रामदरश (सं); समकालीन साहित्य चिंतन; प्रभात प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 1986; पृ. 74

परिस्थितियों, पारम्परिक तथा पश्चिमी विचारधाराओं के मिले-जुले प्रभावों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। रंगमंच पर हुए इन प्रयोगों ने भारतीय रंगमंच को एक नई रंग भाषा प्रदान की तथा विश्व पटल पर भारतीय रंगमंच को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाई।

देखा जाए तो कला के विविध रूपों के परिप्रेक्ष्य में 'प्रयोग' शब्द का व्यवहार आज की वैज्ञानिक चिंतन-पद्धति की देन है। इस शब्द का सामान्य लोक प्रचलित अर्थ तो इस्तेमाल या व्यवहार ही है, लेकिन वैज्ञानिक संदर्भ में यह व्यवहार परीक्षण प्रक्रिया बन जाता है। क्योंकि विज्ञान का तो हर सत्य परीक्षण द्वारा ही सिद्ध किया जाता है। इस प्रयोग शब्द की अर्थ-क्षमता इतनी अधिक है कि जीवन के लगभग सभी पक्षों के संदर्भ में यह शब्द अर्थ देता है। साहित्य के संदर्भ में यह शब्द सामान्यतः अंग्रेजी के एक्सपेरिमेंट का हिंदी पर्याय है। साहित्य में तो नवीन प्रयोग होते आए हैं। "वास्तव में प्रयोग वह साधन है जिसके द्वारा लेखक अपने पूर्व की समस्त ग्राह्य परम्परा को स्वीकार करता हुआ भी पूर्ववर्ती लेखन से अपने को भिन्न रखता है तथा उसमें नवीनता का पुट देता है।"³²

डॉ. सुषमा बेदी के अनुसार इसका अर्थ है, "जहाँ कवि या कलाकार परम्परागत सम्प्रेषण-पद्धतियों को तोड़कर नयी भावभूमि और अभिव्यक्ति के नये माध्यमों की खोज करता है और नाट्य के संदर्भ में भी प्रयोग का यही अर्थ अभीष्ट है।"³³ अतः नाटक और रंगमंच के संदर्भ में प्रयोग शब्द का तात्पर्य है- परम्परा का संस्कार करते हुए 'नये' की खोज करना। परम्परा का अन्वेषण करते हुए ही प्रयोग अस्तित्व में आता है और फिर वह प्रयोग प्रवृत्ति बन कर परम्परा का अंग बन जाता है। परम्परा के जड़ और गतिशील दोनों रूपों से प्रयोग का सम्बन्ध है। कुल मिलाकर नाट्य प्रयोग परम्परा की गतिशीलता के भीतर से ही अपना नया आकार खोजता है।

³² काला, मीनाक्षी; प्रयोगधर्मी नाटककार जगदीशचंद्र माथुर; शारदा प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 1983; पृ. 9

³³ बेदी, डॉ. सुषमा; हिंदी नाट्य: प्रयोग के संदर्भ में; पराग प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 1984; पृ. 2

यह सब जानते हैं कि आधुनिक काल में पारसी थियेटर की व्यावसायिक दृष्टि की प्रतिक्रिया स्वरूप हिंदी में अपना सुरुचिपूर्ण और गंभीर अव्यवसायिक रंगमंच आरम्भ करने में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, पंडित माधव प्रसाद शुक्ल के प्रतिभाशाली प्रयासों के साथ-साथ ‘पृथ्वी थियेटर’ और ‘इप्टा’ का योगदान रहा है। इप्टा आन्दोलन ने रंग-कला की भारतीय दुनिया में एक नई क्रांति की। “प्रान्तीय भाषाओं के नाटक इस समय चौखटे में जड़े मंच की नकल कर रहे थे। मंच और दर्शक के बीच पद-प्रकाश का प्रबंध होता था। यवनिका रंगशाला को दो भागों में बाँटती थी- मंच और दर्शक। पिपुल्ज थियेटर इस प्रकार की मंच-व्यवस्था के विरुद्ध खड़ा हुआ। इसने लोकनाटकों के रूप पुनर्जीवित किए और इनमें नए विषय अवतरित किए। मंच और दर्शक की खाई को पाट दिया। व्यावसायिक नाटक कम्पनियों ने लोकनाटकों के कथाकार, सूत्रधार, गीतकार और विदूषक को प्राचीनकाल के अवशेष समझकर त्याग दिया था। पिपुल्ज थियेटर इन्हें वापस लाया और नए विषयों पर लिखे नाटकों में उसके नई शक्ति और नया रंग भर इन्हें मंच पर प्रस्तुत किया।”³⁴

भारतीय जन-नाट्य संघ ने 1942 से 1960 के भीतर सैकड़ों नाटकों एवं एकांकियों का प्रदर्शन किया था। ‘ये किसका खून है’, ‘आज का सवाल’, ‘आधा सेर चावल’, ‘घायल पंजाब’, ‘कानपुर के हत्यारे’, ‘हिमालय’, ‘मैं कौन हूँ’, ‘जादू की कुर्सी’, ‘मशाल’, ‘बेकारी’, ‘किसान’, ‘तूफान से पहले’ आदि नाटक बार-बार मंचित हुए थे। दमन के वातावरण में भी गाँवों, कस्बों और शहरों में इप्टा के नाट्य-प्रदर्शन होते रहे।

इप्टा के साथ-साथ पृथ्वीराज कपूर के ‘पृथ्वी थियेटर’ ने भी (जिसकी स्थापना मुंबई में 15 जनवरी 1944 को हुई) हिंदी रंगमंच को गति देने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस संस्था ने हिंदी रंगमंच को व्यावसायिक रूप देने का प्रयास किया। लेकिन इसकी व्यावसायिकता और पारसी रंगमंच की व्यावसायिकता में अंतर था। पारसी रंगमंच के लिए पैसा ही मुख्य था। लेकिन

³⁴ गार्गी, बलवंत; रंगमंच; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 1968; पृ. 207-208

पृथ्वी थियेटर का उद्देश्य काफी स्वस्थ था। इसने “जनता को सात्विक मनोरंजन प्रदान कर लोगों के मन में नाट्यकला के प्रति रूचि बढ़ाने एवं व्यवसाय के साथ-साथ, पारसी रंग-शैली से थोड़ा परे हटकर समाज के आदर्श और यथार्थ की महत्त्व दिया।”³⁵ डॉ. अज्ञात लिखते हैं, “इसके पीछे था-एक मिशन, एक आदर्श, एक स्वप्न, जिसकी पूर्ति हिंदी रंगमंच की स्थापना के लिए अपेक्षित थी।... ‘दीवार’, ‘पठान’, ‘गद्दार’, ‘आहुति’, आदि नाटक नवीन विषयों, नवीन रंग-शिल्प को लेकर लिखे गये थे, जो उसी युग के एक नवीन प्रयोग थे-किन्तु भा.ज.ना. संघ के खुले एवं प्रतीकवादी मंच-शैली के नहीं, प्राचीन चित्रफ्रेम वाले रंगमंच- शैली के।”³⁶

इस प्रकार समकालीन हिंदी रंगमंच के इस प्रारंभिक दौर में पहली बार रंग-प्रस्तुतीकारण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण बदलाव देखने को मिला। आगे चलकर साठ-सत्तर के दशकों में हिंदी रंगमंच का जो प्रौढ़ स्वरूप निखरकर सामने आया उसकी नींव यही पड़ी थी। भारतीय जन नाट्य संघ, पृथ्वी थियेटर के साथ कई गैर-सरकारी तथा सरकारी नाट्य-संस्थाओं ने हिंदी रंगमंच को गति देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। हिंदी रंगमंच पर नया रंगान्दोलन या रंगमंचीय प्रयोगशीलता के आरम्भ होने से पहले इलाहबाद, कानपुर, काशी तथा लखनऊ जैसे नगरों और कोलकत्ता, दिल्ली, मुंबई जैसे महानगरों में रंगकर्म न्यूनाधिक रूप में जीवित था। परन्तु इस समूचे रंगकार्य पर भी कहीं न कहीं पारसी थियेटर का भी प्रभाव था। जिसका परिमाण यह हुआ कि रंगकार्य से संबंधित लगभग सभी संस्थाओं का धीरे-धीरे विघटन हो गया। बांग्ला, मराठी, कन्नड़ इत्यादि प्रादेशिक भाषाओं के समृद्ध रंगमंच के समक्ष हिंदी रंगमंच की स्थिति नगण्य-सी ही थी।

आजाद भारत में जब कलात्मक गतिविधियों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आंका जाने लगा तो यह पाया गया कि हमारे पास रंगमंच की ऐसी कोई भी नियमित परम्परा नहीं थी जिसे हिंदी

³⁵ वशिष्ठ, डॉ. सुरेश; हिंदी नाटक और रंगमंच; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 1995; पृ. 58-59

³⁶ डॉ. अज्ञात; भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास; पुस्तक संस्थान, कानपुर; संस्करण 1965; पृ. 428

रंगमंच का नाम दिया जा सके। यह स्थिति लगभग वैसी ही थी जैसी बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अमरीकी रंगमंच की। जिस प्रकार अमरीकी रंगमंच आरम्भ में यूरोप की पतनशील, तथाकथित यथार्थवादी लेकिन मूलतः मेलोड्रामेटिक रंगमंच की नकल भर था, वैसे ही हमारे यहाँ भी एक ओर पाश्चात्य विघटनशील विक्टोरियन नाट्य-परम्परा का हिंदी संस्करण पारसी रंगमंच था और दूसरी ओर शा, इब्सन के नाटकों का आदर्श लिये लेकिन केवल नाम के तौर पर ही यथार्थवादी रंगमंच था या पाठ्य नाटक थे³⁷ इसीलिए भारत में नये और निजी रंगमंच की खोज के लिए प्रयोग का रास्ता अपनाया गया।

इस नए प्रयोगात्मक रंगान्दोलन में सरकार द्वारा किये गए प्रयासों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। 1953 में केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी की तथा इसके बाद राज्यों में प्रादेशिक आकादमियों की स्थापना की गई। साथ ही 1959 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना भी समकालीन हिंदी नाट्य और रंगमंच की यात्रा में महत्त्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि नाटक के पाठक के स्थान पर दर्शक की संज्ञा महत्त्वपूर्ण हो गयी। समुचे भारतीय रंगमंच के समक्ष हिंदी रंगमंच ने अपने को खड़ा किया। “वस्तुतः छठा दशक हिंदी नाटक और रंगमंच की सक्रियता, विस्तार और नवजीवन में अपनी जड़ें रोपने का काल कहा जा सकता है।”³⁸ वस्तुतः नाटक ही वह नींव है जिस पर रंगमंच रुपी भवन खड़ा किया जाता है। अनेक मौलिक और आधुनिक प्रयोगों के साथ नाटक को सशक्त जामा पहनने में अनेक रंगकर्मियों का उल्लेखनीय योगदान रहा है जिसमें हबीब तनवीर, ब.व. कारंत, मोहन महर्षि, बंसी कौल, एम.के. रैना, भानु भारती राजेंद्रनाथ, रंजीत कपूर, देवेन्द्रराज अंकुर, रतन थियम आदि के नाम प्रमुख हैं।

समकालीन हिंदी नाटक जीवन से जुड़ा हुआ है। कथ्य, शिल्प, शैली के नवीनतम प्रयोगों

³⁷ बेदी, डॉ. सुषमा; हिंदी नाट्य: प्रयोग के संदर्भ में; प्राग प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 1984; पृ. 6

³⁸ किशोर, ब्रजराज; हिंदी नाटक और रंगमंच: समकालीन परिदृश्य; जनप्रिय प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 1980. पृ. 160

के साथ-साथ, समकालीन बोध, समकालीन हिंदी रंगमंच की पहचान है। कथ्य (विषय-वस्तु) चाहे ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक या राजनैतिक हो, जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं जिसे नाटककार ने छुआ न हो। व्यष्टिगत चेतना के साथ-साथ समष्टिगत चेतना को भी महत्त्व देते हुए हमारे नाटककारों, निर्देशकों ने व्यक्ति तथा समाज से जुड़ी हुई विभिन्न समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया है। समकालीन हिंदी रंगमंच की विशेषता रही है कि यह परिवेशगत प्रतिबद्धता और रंगमंचीय प्रतिबद्धता दोनों को साथ लिए नाट्य-सृजन कर रहा है।

समकालीन हिंदी रंगमंच प्रयोगशीलता का ऐसा रंगमंच है, जिसमें विरासत में मिली रंग-परम्पराओं के आधार पर नये नाट्य प्रयोग किये गए। इस प्रयोगशीलता के तहत ही संस्कृत नाटकों को हिंदी रंगमंच पर पुनः खेला गया। इस रंगमंच की नाट्य-रूढ़ियों का प्रयोग रंगकर्मी नवीन सन्दर्भों में करने लगे। संस्कृत के नाटकों में एक अत्यन्त उच्च सृजनात्मक स्तर की नाट्य-कृतियों का भंडार है, केवल साहित्य की ही दृष्टि से नहीं, रंगमंच पर प्रस्तुत करने के उपयुक्त आलेखों की दृष्टि से भी। इस संदर्भ में कुछ नाटकों ने हिंदी रंगमंच पर विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की जिसमें 'अभिज्ञान शाकुंतल', 'मृच्छकटिकम्', 'स्वप्नवासवदत्ता', 'प्रतिमा', 'उत्तररामचरित', 'रत्नावली', 'माध्यम व्यायोग', 'उरुभंगम' आदि प्रमुख हैं। "ये नाटक विषयगत विविधता और रोचकता के लिए, जीवन के सूक्ष्म अवलोकन के लिए, वातावरण की विशिष्टता के लिए, और शैलीगत नवीनता के लिए, बड़ा व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत करते हैं। उनमें वह काव्य-तत्त्व पर्याप्त मात्रा में है जो नाटक को नीरसता से निकालकर जीवन की गहराई में स्थापित करता है।...रंगसज्जा की दृष्टि से भी उनका परिवेश अत्यंत ही सूक्ष्म कलाबोध और सुरुचिपूर्ण दृश्यात्मक कल्पनाशीलता की अपेक्षा रखता है।"³⁹

³⁹ जैन, नेमिचंद्र; रंगदर्शन; राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 1996; पृ. 93

हिंदी रंगमंच और नाट्य-लेखन जब पश्चिमी रंग-प्रयोगों और शैलियों से ऊब गया तो हिंदी रंगमंच अपनी मिट्टी और जनसमूह से जुड़ने की बेचैनी में लेखन और रंगकर्म दोनों लोक-नाट्य शैली के प्रयोगों की ओर मुड़े। फलस्वरूप कई सशक्त नाटक लोकनाट्य शैलियों में लिखे और खेले गए। सन 1975-77 के आसपास का समय इस दृष्टि से बेहद रचनात्मक कहा जा सकता है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'बकरी', 'अब गरीबी हटाओ', मणि मधुकर के 'रसगंधर्व', 'दुलारीबाई', 'खेला पोलमपुर', लक्ष्मीनारायण लाल का 'एक सत्य हरिश्चंद्र', 'नरसिंह कथा' शंकर शेष का पोस्टर, आदि उल्लेखनीय हैं। देश में कोने-कोने में इन नाटकों के नौटंकी, राजस्थानी ख्याल, भवई, नाचा, काबुकी, यक्षगान, तमाशा, आदि लोकनाट्य-रूपों में सैकड़ों मंचन हुए। इनका उपयोग नाट्य-प्रशिक्षण-शिविरों के लिए भी हुआ और बड़े-बड़े समारोहों के लिए भी। इन सभी प्रयोगों के द्वारा नाटक और रंगमंच दोनों ही समृद्ध हुए। "राष्ट्रीय फलक पर हबीब तनवीर अपने मूल लोक-कलाकारों द्वारा छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य-रूपों का आधुनिक संदर्भ में सर्जनात्मक उपयोग 'चरनदास चोर' तथा अन्य कृतियों द्वारा कर रहे थे।"⁴⁰

इसी दौर में कारंत ने दक्षिण की यक्षगान शैली के बहुत ही सार्थक प्रयोग 'अंधेर नगरी' और 'बरनम वन' में किये। उनकी 'हयवदन' प्रस्तुति इतिहास की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। बंसी कौल ने माच लोक-शैली, दक्षिणी नाट्य-शैलियों के प्रयोग भी किये। रतन थियम मणिपुरी, असमी लोकनाट्य-शैलियों के और आंचलिक बोली के धनी और सृजनशील निर्देशक और अभिनेता के रूप में उभरे।

समकालीन हिंदी रंगमंच की विरासत की चर्चा करते हुए पाश्चात्य रंग-परम्परा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। पाश्चात्य रंग-जगत की विविध रंग-परम्पराओं ने आयास या अनायास रूप से

⁴⁰ रस्तोगी, डॉ. गिरीश; समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच; विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी; पृ. 24

हिंदी रंगमंच के विकास के लगभग सभी सोपानों को प्रेरित और प्रभावित किया है। इब्सन का 'गुडिया घर', मौलियर का 'बिच्छू', बैकेट का 'गोदो के इंतजार में', ब्रेख्त का 'खड़िया का घेरा', शेक्सपीयर का 'मेकबेथ' आदि इन सभी नाटकों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हिंदीरंगमंच को प्रभावित किया। डॉ. गिरीश रस्तोगी लिखती हैं, "नवीनता और प्रयोगात्मकता के भ्रम में नाट्यलेखन भी और रंगकर्म भी पश्चिमी रंग-शैलियों और विचारों से शुरू हुआ। शेक्सपियर, ब्रेख्त, इब्सन, चेखव, मौलियर आदि सब पर बहुत तेजी से ध्यान गया। प्रोटोव्स्की और स्तानिस्लाव्स्की की अभिनय शैलियों और उनका प्रशिक्षण ही मुख्य हो गया- ब्रेख्तियन मंच शैली के प्रशिक्षण और हिंदी नाट्य प्रस्तुतियों में उस शैली के प्रयोगों की प्राथमिकता आरम्भ हो गयी।"⁴¹ इस काल में पाश्चात्य नाटककारों के नाटकों के रूपांतरों-अनुवादों को भी रंगमंच पर खेला गया, जिन्होंने हिंदी रंगमंच को काव्यात्मक-यथार्थवादी शैली से लेकर विसंगतवादी शैली तक के अनेक रूपों से परिचय कराया।

इस प्रकार ये तीनों रंग-परम्पराएं (संस्कृत, लोकनाट्य, पाश्चात्य) हिंदी रंगमंच के लिए एक सम्पन्न दाय और स्रोत सिद्ध होती हैं। हिंदी का उत्साही रंगकर्मी और नाटककार आज भी इन तीनों परम्पराओं का मंथन करते हुए, उन्हें नया रंग-संस्कार देता हुआ, वस्तु और शिल्प दोनों के स्तर पर अनेक नवीन प्रयोग करते हुए महत्त्वपूर्ण रंग-उपलब्धियों की तलाश कर रहा है। प्रस्तुति के स्तर पर भी नाटक के सर्जनात्मक रूप एवं अर्थ की व्याख्या करने और इसे दर्शकों तक सम्प्रेक्षित करने के लिए भी अनेक रूढ़ियों एवं व्यवहारों का कल्पनाशील, अयथार्थवादी उपयोग करते हुए रंगकर्मियों ने नवीन अंतर्दृष्टि का परिचय दिया। फलस्वरूप नाटक को बंद प्रेक्षागृह से निकाल कर मुक्ताकाशी रंगमंच, पारम्परिक रंग शैली, काव्यात्मक धरातल, रीतिबद्ध शैली का व्यंजनापूर्ण प्रयोग करते हुए नवीन धरातलों और रंग शैलियों की गहराई से तलाश की गई।

⁴¹ रस्तोगी, डॉ. गिरीश; समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच; विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी; संस्करण 2000; पृ. 17-18

ब्रेख्त की महाकाव्यात्मक शैली, ग्रोतोव्स्की के मनोशारीरिक रंगमंच इत्यादि से प्रेरणा लेते हुए प्रदर्शन के स्तर पर नए आयामों का अन्वेषण किया गया। प्रदर्शन की नवीन संभावनाओं की तलाश में रंग-सज्जा की सादगी एवं प्रतीकात्मकता, प्रकाश का कल्पनाशील प्रयोग, गतियों का सृजनात्मक प्रयोग, कोरस- सूत्रधार-वाचक का प्रयोग, संगीत का सृजनशील प्रयोग, मुखौटों-कठपुतलियों इत्यादि के प्रयोग तथा प्रदर्शन में दर्शकों की भी हिस्सेदारी आदि के स्तर पर अनेक मौलिक प्रयोग किये गए। मनोशारीरिक रंगमंच के अंतर्गत मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में', ब्रेख्त के नाटक 'खड़िया का घेरा', गिरीश कर्नाड के 'तुगलक', बादल सरकार के 'बाकी इतिहास' की प्रस्तुतियां की गयीं जिनमें शरीर से बनने वाले दृश्य-बिम्बों और उनसे निकलने वाली ध्वनियों द्वारा नयी रंगमंचीय भाषा की तलाश की गई। इस प्रयोग ने शरीर के द्वारा बनने वाली भाषा की महता को सिद्ध कर दिया।

समकालीन हिंदी रंगमंच के अंतर्गत नुक्कड़ नाटकों का भी नए संदर्भों में प्रयोग किया गया। "शुरूआती दौर में नुक्कड़ नाटकों का दौर मुख्यतः राजनीतिक ही रहा। आजादी के बाद जनता के टूटते भ्रमों और सपनों के संघर्षों को जन-आंदोलनों से जोड़ने में नुक्कड़ नाटकों ने सक्रिय और निर्णायक भूमिका निभाई है। सत्ता के साथ संघर्ष की दास्तान अपने आप में कला की सार्थक भूमिका का दस्तावेज है।"⁴² देश में इस आन्दोलन को जनता तक पहुँचाने में इप्ता से लेकर गुरुशरण सिंह, हबीब तनवीर, उत्पल दत्त, बदल सरकार, सफ़दर हाशमी, शम्सुल इस्माल समेत कई अभिनेताओं, नाटककारों का योगदान है। सफ़दर हाशमी द्वारा स्थापित 'जन नाट्य मंच' और 'अस्मिता थियेटर ग्रुप' ने नुक्कड़ नाटक द्वारा रंगमंच को जन चेतना का सशक्त आधार बनाने का प्रयास किया है। भ्रष्टाचार, सामाजिक भेदभाव, छेड़खानी, बाल मजदूरी, पर्यावरण आदि जैसे मुद्दे इसके विषय बनने लगे हैं। आज धीरे-धीरे इस प्रयोग ने एक आन्दोलन का ही रूप ले लिया।

⁴² गौड़, अरविन्द; नुक्कड़ पर दस्तक; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2019; पृ. भूमिका से

समकालीन हिंदी रंगमंच की इस प्रयोगशीलता के अंतर्गत उत्साही रंगकर्मियों का ध्यान नाटकेतर विधाओं के मंचन की ओर भी गया। साहित्य की अन्य विधाओं को भी इस क्षेत्र में प्रतिष्ठा मिली। हिंदी के रंगमंच पर उपन्यास, कहानी, कविता, व्यंग्य रचनाएँ, डायरी, पत्र इत्यादि साहित्यिक विधाओं को रंगमंच पर उतारने के लिए सफल प्रयास हुए हैं। कविता की सार्वजनिक प्रस्तुति हमारी परम्परा में शामिल है। नाट्यकला के उद्भव के पश्चात् गद्य नाटकों के विकास से पूर्व काव्य नाटक ही मंच पर प्रस्तुत किये जाते थे। कविता का नाट्य रूपान्तर 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' को सार्थक कर रहा है। आज समकालीन रंगमंच पर कविता की वापसी हुई है। नाट्य निर्देशकों ने समकालीन कविता के मंचन में अनंत संभावनाओं को देखते हुए ही इसके मंचन का सिलसिला प्रारम्भ किया।

कविताओं के संदर्भ में सर्वप्रथम प्रयास मुक्तिबोध की कविताओं को लेकर हुए। उनकी कविताओं की एक विशेषता यह है कि उसमें दृश्यात्मकता प्रमुख है जो किसी भी निर्देशक के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण बिंदु है। प्रसिद्ध रंग निर्देशक अलखनंदन, अरुण पाण्डेय ने मुक्तिबोध की कविताओं को दृश्य रूप में मंच पर उपस्थित किया। मुक्तिबोध के अलावा कई अन्य कवि भी निर्देशकों के प्रिय रहे। श्रीकांत वर्मा के 'मगध', मैथिलीशरण गुप्त के 'नहुष', 'भारत-भारती', 'साकेत', 'जयभारत', 'द्वापर', 'यशोधरा', राजकमल चौधरी के 'मुक्ति प्रसंग', रघुवीर सहाय के 'औरत का देश', धूमिल की 'मोचीराम', सक्सेना की 'कुआनो नदी', धर्मवीर भारती की 'मुनादी' और 'कनुप्रिया' आदि की सफल प्रस्तुतियां इसके उदाहरण हैं। श्रीकांत वर्मा, ज्ञानेंद्रपति, गुलजार, रघुवीर सहाय, संतोष चौबे, लीलाधर जगूड़ी विनोद दास, शमशेर बहादुर, केदारनाथ अग्रवाल, आदि की कविताओं का भी मंचन किया गया।

प्रयोग के स्तर पर हिंदी रंगमंच में 'कहानी का रंगमंच' सर्वाधिक चर्चित और प्रसिद्ध रहा

है। नाटक और कहानी दोनों में समानतायें होते हुए भी कुछ भिन्नताएं भी हैं। हर कहानी में नाटक है और हर नाटक में कहानी। कहानी को पढ़ते समय उसकी चाक्षुष अनुभूति मन में बनती चलती है। इसी चाक्षुष अनुभूति को मंच पर साकार करने का स्तुत्य प्रयास देवेन्द्र राज अंकुर ने किया और उनमें वे सफल भी रहे। इसकी शुरुआत 1975 में निर्मल वर्मा की तीन प्रसिद्ध कहानियों- ‘धूप का एक टुकड़ा’, ‘डेढ़ इंच ऊपर’, और ‘वीकएंड’ को ‘तीन एकांत’ नाम से मंचन करने से हुई⁴³ तब से लेकर अब तक कई कहानियां इस प्रयोग से गुजर चुकी हैं तथा इस प्रयोग की सार्थकता को घोषित भी करती हैं। अंकुर ने मोहन राकेश, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, प्रसाद, प्रेमचंद आदि की कहानियों को भी मंचित किया है।

कहानी के नाट्य रूपांतरण से हिन्दी साहित्य और रंगमंच को गतिशील एवं समृद्ध बनाने में योगदान दिया है। हनुयादव द्वारा रूपांतरित ‘पंचलाइट’ (रेणु), ‘अरथी’ (श्रीकांत), ‘जीव खो गया’ (परसाई के ‘भोलाराम का जीव’ का), हबीब तनवीर द्वारा रूपांतरित ‘मोटेराम का सत्याग्रह’ (प्रेमचंद की ‘सत्याग्रह’ का), ‘उसकी रोटी’ (मोहन राकेश), अरुण कुकेरजा द्वारा निर्देशित ‘पंचपरमेश्वर’ (प्रेमचंद), ‘उसने कहा था’ (गुलेरी), ‘उसकी माँ’ (उग्र), आकाशदीप और पुरस्कार (प्रसाद) प्रसन्ना के तिरीछ (उदय प्रकाश) आदि उत्तम उदाहरण हैं। महिला रचनाकारों में गिरीश रस्तोगी, चित्र मुद्गल, मृदुला गर्ग, उषा गांगुली आदि नाम आता है।⁴⁴

कहानी के रंगमंच के साथ ही उपन्यासों के नाट्य रूपांतरण भी मंच पर हुए हैं। कहानी की अपेक्षा उपन्यास का नाट्य रूपांतरण करने में चुनौतियाँ अधिक होती हैं। उपन्यासों का नाट्य रूपांतरण करने का सफल प्रयास भी अंकुर द्वारा किया गया। उन्होंने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा कुल मिलकर 12 उपन्यासों का नाट्य रूपांतरण किया। ‘महाभोज’, ‘मित्रों मरजानी’, ‘डार से

⁴³ कुमारी वी.एल, डॉ. रीना; हिंदी नाटक और रंगमंच; विद्या प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2019; पृ. 156

⁴⁴ वही, पृ. 156

बिछुड़ी', 'अपना मोर्चा' (काशीनाथ सिंह), 'अनारो' (मंजुल भगत), 'अपने अपने अजनबी', 'कसप' (मनोहर श्याम जोशी) आदि उदाहरण हैं। अंकुर के अतिरिक्त इस प्रकार के प्रयास रंजीत कपूर का 'मुख्यमंत्री' (चाणक्य सेन), 'कुरु-कुरु स्वाहा' (मनोहर श्याम जोशी), हनुयादव का 'गली आगे मुड़ती है' (शिवप्रसाद सिंह), रामकुमार भ्रमर का 'तमाशा' वज्रमोहन शाह का 'मित्रो मरजानी', नरेंद्र आचार्य का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (धर्मवीर भारती), एम.के. रैना (मैला अंचल), 'कभी न छोड़े खेत') आदि प्रसिद्ध रहे।

महिला नाट्य रूपांतरकार/ निर्देशिकाओं में प्रतिभा अग्रवाल की भूमिका सराहनीय रही। उनके द्वारा प्रस्तुत होरी (प्रेमचंद, गोदन), नगर वधू (अमृतलाल नागर, सुहाग के नुपूर), वंशवृक्ष (कन्नड़ उपन्यास) काफी प्रसिद्ध रहे। गिरीश रस्तोगी ने रंगनाथ की वापसी (राग दरबारी) तथा बाणभट्ट की आत्मकथा (हजारी प्रसाद दिवेदी), रंगनाथ की वापसी- रागदरबारी का, प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' का नाट्यान्तरण प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त महाश्वेता देवी का 'हजार चौरासी की माँ', कृष्णा सोबती की 'डार से बिछुड़ी', 'मित्रो मरजानी', मन्नु भंडारी के 'महाभोज' मृणाल पाण्डेय (काजर की कोठरी, - देवकीनंदन खत्री) जैसे- उपन्यासों की नाट्य रूपांतरित प्रस्तुतियाँ भी उल्लेखनीय रहीं। मंच पर स्वरूप ग्रहण करके ये कृतियाँ आधिकाधिक लोगों तक पहुंचीं।

कुल मिलकर कहा जा सकता है कि समकालीन हिंदी रंगमंच सामाजिक दायित्व के प्रति सजगता, कलात्मकता का पक्षधर है। हिंदी रंगमंच ने युगीन संदर्भों से जुड़ते हुए अपने स्वरूप को आकर दिया है जिसमें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, साहित्यिक परिस्थितियों, पारम्परिक तथा पश्चिमी विचारधाराओं का प्रभाव भी रहा। आज का नाटककार मंचीय पक्ष को ध्यान में रखकर लिखने लगा है। विज्ञान और तकनीक के विकास ने भी निश्चित रूप से रंगमंच के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया है। सामाजिक दायित्व के प्रति कलात्मक सजगता, निर्देशक

का महत्त्वपूर्ण होना, दर्शक का बदलता स्वरूप, पर्दे का खत्म होना, सर्जनात्मक रंग-दीपन, रंग-संगीत के बदलते आयाम, यंत्र-चालित मंच आदि समकालीन हिंदी रंगमंच के कारक तत्व हैं।

समकालीन रंगमंच के इस प्रयोगात्मक रंगान्दोलन में हिंदी के अतिरिक्त अनेक देशी-विदेशी नाटकों के अनुवाद, उपन्यास, कविता, कहानी जैसी मंचेतर विधाओं के नाट्य रूपांतरण कर ज्यों की त्यों प्रस्तुति एवं मंचन भी हिंदी रंगमंच के स्वरूप को नया आयाम प्रदान करता है। इन सबके मूल में प्रयोगशील प्रतिभा की बेचैनी है। आज नाट्य कला को परखने और उसके मूल्यांकन में रचनात्मक दृष्टि एवं लोक-दृष्टि का सामंजस्य भी जरूरी है। निश्चित रूप से इन नए प्रयोगों के द्वारा हिंदी का समकालीन रंगमंच समृद्ध हुआ है।

2.3 समकालीन रंग परिप्रेक्ष्य में हबीब तनवीर

हिंदी के समकालीन रंगमंच ने अपनी विकास-यात्रा के दौरान अनेक उपलब्धि प्राप्त की है। आधुनिक जीवन की जटिलताओं को विभिन्न रचनात्मक तरीके से पेश करते हुए समकालीन हिंदी रंगमंच में निर्देशक एक महत्त्वपूर्ण तत्व के रूप में उभरकर आया है। उसकी सर्जनात्मक रंग दृष्टि के परिणाम स्वरूप ही कहानी, उपन्यास, कविता जैसी साहित्यिक विधाओं के मंचन के प्रयोग हुए। नुक्कड़ नाटकों के साथ-साथ बाल रंगमंच की सक्रियता बढ़ी। इसने पश्चिम के देशों से नाट्य-परम्पराओं एवं नाट्य-चिंतन से प्रभाव ग्रहण किया। साथ ही आधुनिक जीवन की जटिलताओं, विसंगतियों, समस्याओं को अभिव्यक्त करने के लिए नाट्य लेखन तथा रंग-प्रस्तुतीकरण में पारम्परिक, लोक-नाट्य परम्परा के प्रयोग से अपनी जड़ों को समृद्ध करने का प्रयास किया गया। इस संदर्भ में हबीब तनवीर, ब.व. कारंत, रतन थियम, के. एन. पणिककर आदि ने अपने रंग-प्रयोगों से एक ओर लोकशैलियों को समकालीन सन्दर्भों में जीवंत रखा, वहीं दूसरी ओर भारतीय रंगमंच को विविध आयाम दिये।

देखा जाए तो समकालीन रंग परिप्रेक्ष्य में हबीब तनवीर अपनी दोहरी भूमिका निभाते हैं। एक नाटककार के रूप में तो दूसरी निर्देशक के रूप में। उनके निर्देशकीय पक्ष की बात करें तो उनकी रंग चेतना ने छत्तीसगढ़ की लोक संस्कृति को रंगमंच के विश्व फलक तक पहुँचाया है। उनका रंगकर्म जीवन की पूर्णता का पर्याय है। क्योंकि वे सुख-दुःख, आशा-निराशा, जीवन-मृत्यु आदि जीवन की किसी भी चीज़ को छोड़ते नहीं थे। उसको दिखाते थे। हबीब तनवीर के इस साहस और संघर्षपूर्ण व्यक्तित्व के पीछे परम्परा की सही पहचान और उनकी आधुनिक विश्व दृष्टि थी। उनका थियेटर न तो पश्चिमविरोधी है और न ही परम्परावादी। हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, “बुद्धिमान आदमी एक पैर से खड़ा रहता है, दूसरे से चलता है। यह केवल व्यक्ति-सत्य है, सामाजिक संदर्भ में भी यह सत्य है। खड़ा पैर परम्परा है, चलता पैर आधुनिकता। दोनों का पारस्परिक संबंध खोजना बहुत कठिन नहीं है। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।”⁴⁵ यही बात हबीब के रंगकर्म में देखी जा सकती है।

कथ्य की दृष्टि से उनके नाटक आधुनिक हैं और शैली की दृष्टि से पारम्परिक। लेकिन शैली के प्रयोग मात्र से हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह सिर्फ पारम्परिक नाटक कर रहे थे। वह तो बस उन रंग तत्त्वों का इस्तेमाल भर करते हैं। इसीलिए नामवर सिंह कहते हैं, “हबीब के नाटकों में लोक की स्थानीयता का बहुत विराट स्वरूप है, लेकिन उनके नाटक-लोक नाटक नहीं हैं, वैज्ञानिक सोच के साथ परिमार्जित आधुनिक नाटक है।”⁴⁶

हबीब तनवीर मानते थे कि लोक रंगमंच और बोलियों का रंगमंच ही सबसे सशक्त है। उनकी रंग चेतना उस सोच पर आधारित है जहाँ लोक परम्पराओं की अपार सृजनात्मक

⁴⁵ कुमार, अमितेश; ‘गाती-झूमती मजे लेती वैकल्पिक आधुनिकता’; अभय कुमार दुबे (सं.); प्रतिमान; प्रवेशांक; जनवरी-जून 2013; पृ. 268

⁴⁶ अग्रवाल, महावीर; हबीब तनवीर का रंग संसार; श्री प्रकाशन, दुर्ग, छत्तीसगढ़; संस्करण 2006; पृ. 138

क्षमताओं और ऊर्जा का स्वीकार्य है। हबीब तनवीर परम्परा को बहुत अच्छे से जानते थे। उन्हें यह ज्ञात था कि परंपरा का बहुत सारा हिस्सा मृत, अनुपयोगी और जीवन विरोधी भी है। इसलिए इस बात को लेकर वे काफी सजग थे। उन्होंने कहा भी है कि “हमें परम्परा का दास नहीं बनना है, पर साथ ही हमें उसके साथ मनमानी करने का भी कोई अधिकार नहीं। आधुनिक कला रचना में परम्परा के सृजनात्मक समावेश के लिए उसके प्रति अधिक गम्भीर और संस्कार-परक दृष्टिकोण की आवश्यकता है... रंगमंच के विकास के मौजूदा दौर में हमें पारम्परिक नाट्य की ओर उन्मुख होने की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही उसके प्रति एक स्वस्थ और दायित्वपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने की भी है।”⁴⁷

हबीब तनवीर बार-बार यह बात कहते थे कि “मेरे आसपास का समाज मेरी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक है।”⁴⁸ उनके आसपास का यह समाज ही उनका लोक है। इसे ही उन्होंने पढ़ा, समझा, इसे ही खेला। वे कहते थे कि “लोक हमारे बीच प्रमाण के रूप में स्वीकृत होता है। इस लोक की संस्कृति का अपना समाजशास्त्र है। साथ ही संस्कृति को आप लोकतत्त्वों से अलग नहीं कर सकते। हमारा लोकसाहित्य संस्कृति और विश्व दर्शन से गहरे जुड़ा हुआ है, परस्पर अनुस्यूत है। शब्दों से परे जाकर भाव और संवेदन की जो अदृश्य दुनिया है, लोक उसे थाती की तरह संभालकर रखता है और भविष्य की पीढ़ियों के लिए उपलब्ध कराता है।”⁴⁹ यही कारण है कि वे इन परम्पराओं से गीत-संगीत, शैली कुछ भी लेने में जरा भी हिचकते नहीं। ‘आगरा बाजार’, ‘मिट्टी की गाड़ी’, ‘गाँव का नाम ससुराल मोर नाम दामाद’, ‘अर्जुन का सारथी’, ‘राजा चंबा और चार भाई’, ‘चरनदास चोर’, ‘शाही लकड़हारा’, ‘जानी चोर’, ‘चंदैनी’, ‘जमादारिन’, ‘बहादुर क्लारिन’, ‘देवी का वरदान’, ‘सोन सागर’, ‘मंगलु दीदी’, ‘हिरमा की अमर कहानी’

⁴⁷ सुलभ, हृषीकेश; रंग अरंग; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2012; पृ. 59

⁴⁸ वही, पृ. 62

⁴⁹ वही, पृ. 57-58

आदि उनके ऐसे नाटक हैं जहाँ उनकी शैली की छाप देखी जा सकती है।

‘लोक’ उनके यहां जीवन का हिस्सा है। उन्होंने न केवल छत्तीसगढ़ी ‘नाचा’ की शैली को लिया, अपितु पंडवानी गायन, पंथी नृत्य, सुआ गीत, चन्दैनी, स्वांग, प्रह्लाद नाटक जैसी लोकनाट्य शैलियों और विभिन्न प्रदेशों के आनुष्ठानिक प्रयोगों, लोक कथाओं आदि को भी शामिल किया। हबीब तनवीर के नाटकों में रंग संगीत भी एक शक्ति थी। वे करवा, ददरिया, विहाव इन लोक धुनों का प्रयोग करते थे। वास्तविकता में उन्होंने छत्तीसगढ़ की लोक रीतियों, अनुष्ठानों और परम्पराओं को अपनी रंगदृष्टि में पूरा स्थान दिया है।

देख जाए तो लोक शैली को अपनाने हुए हबीब तनवीर आज के संदर्भ में आधुनिक नाटककार इसीलिए बन पाए कि उन्होंने समाज की समस्याओं का बारीकी से अध्ययन किया और उसके निदान के लिए अपने नाटकों को माध्यम बनाया। उन्होंने इतिहास, परम्परा के साथ-साथ आधुनिक भाव-बोध को अपनाया। वह कहते थे कि “किसी नयी चीज़ को पुरानी चीज़ से मिला दीजिये तो एक तीसरी खासियत पैदा होती है और उसका नाम है आधुनिकता या रेनेसां।”⁵⁰ यहाँ गौर करने की बात यह है कि भारतीय रंगमंच पर उन्होंने उस आधुनिकता को पेश किया जिसमें परम्परा का समावेश हो सके। उन्होंने महसूस किया कि पश्चिम से आयातित नाट्य रूप भारत की समकालीन सामाजिक स्थितियों, जीवन-व्यवहार, संस्कृति और मूलभूत समस्याओं को प्रभावी रूप से अभिव्यक्त करने में अक्षम हैं। इसीलिए वे पारम्परिक शैली और लोक की तरफ मुड़ते हैं।

समकालीन रंगमंच पर हबीब तनवीर जन-साधारण के हितों और आकांक्षाओं के प्रतिनिधि के रूप में उभर कर सामने आते हैं। उनका व्यक्तित्व आधुनिक बोध और परम्परा के

⁵⁰ तनवीर, हबीब; ‘लोककथाओं और लोकगीतों में प्रतिवाद के स्वर’; तिवारी, अशोक (सं.); नुक्कड़ जनम संवाद; अंक 23-26; अप्रैल 2004-मार्च 2005; पृ. 55

समन्वय का परिचायक है। उसमें किसी प्रकार की अपरिवर्तनशील, रूढ़ीगत भावना के लिए स्थान नहीं है। अपनी जड़ों की पहचान, नवीनता की स्वीकृति, तर्क, गतिशीलता, मानवतावादी दृष्टिकोण, संघर्ष की चेतना आदि का भाव नीहित है। वे शोषितों के सवालियों को नाटक के केंद्र में लेकर आते हैं। अपने लगभग सभी नाटकों में उन्होंने समाज, धर्म, संस्कृति, राजनीति आदि की समस्याओं एवं प्रश्नों को उठाया।

‘आगरा बाज़ार’ अपनी प्रतीकात्मकता में तत्कालीन राजनीतिक अस्थिरता के समय आम आदमी के बीच व्याप्त हताशा, कुंठा और असमंजस की स्थिति का चित्रण करता है। इस नाटक के आरंभ में लिखा है, “है अब तो कुछ सखुन का मेरे कारोबार बंद...जब आगरे की खल्क का हो रोजगार बंद।”⁵¹ यही बात आदमीनामा में भी दिखाई देती है। ‘मिट्टी की गाड़ी’ पहली बार एक साधारण आदमी के नायकत्व का बोध कराता है। यह चारुदत्त और गणिका बसंतसेना की रोमांटिक प्रेम कथा ही नहीं है, उसके साथ अत्याचारी राजा पालक के विरुद्ध शर्विलक की राजनीतिक चेतना का भी बिंदु है। ‘बहादुर कलारिन’ में तो हबीब तनवीर द्वारा लोककथा की एक नितांत आधुनिक व्याख्या हुई है। इस नाटक में मनुष्य मन का गहरा स्वभाव देखने को मिलता है। आधुनिक युग में व्याख्यित ‘इडिपस काम्प्लेक्स’ का समन्वय इस लोक कथा में दिखता है।

हबीब तनवीर की दृष्टि लगातार अपने समय की राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों पर थी। आपातकाल के बाद ‘चरनदास चोर’ में रानी की निरंकुशता तत्कालीन स्थितियों में और भी व्यंग्यात्मक हो जाती थी। यह नाटक एक चोर के सत्य के आग्रह की लोक कथा है जो आधुनिक और सामाजिक विसंगतियों को उभारने में भी सफल रहा। इसमें सत्य और सत्ता के संबंधों पर टिप्पणी की है। एक चोर सत्य पर अडिग रहता है और सत्ता अपना ऐब छुपाने के लिए उसकी

⁵¹ तनवीर, हबीब; आगरा बाज़ार; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010; पृ. 47

हत्या कर देती है। जबकि 'हिरमा की अमर कहानी' में वे आदिवासियों के जीवन की विसंगतियों को उठाते हैं। हबीब तनवीर के अन्य नाटकों की तुलना में इसमें राजनीतिक तत्त्व सबसे ज्यादा हैं, लेकिन अफ़सोस यह है कि इस नाटक की कम ही चर्चा हुई। सच्चाई तो यह है कि आज भी भारत में आदिवासी प्रश्न अनसुलझे हैं।

उदारीकरण के बाद उससे हुए विकास के खोखले दावों की हकीकत बताने के लिए 'सड़क' नाटक तैयार किया। इस नाटक के आदिवासी पात्र बताते हैं कि सड़क के आगमन से उनके जंगली जानवर, पेड़, फल इत्यादि समाप्त होते जा रहे हैं। इस आधुनिक विकास से केवल सामान्य जीवन ही नहीं उनकी संस्कृति भी प्रभावित होती है। हबीब कहना चाहते थे कि "वस्तुतः आधुनिकता विविधता को प्रश्रय नहीं देती। वह एकरूपता को प्रोत्साहन देती है और एक ही वृत्तांत में सब को ढालना चाहती है। यह दरअसल उपभोक्ता-निर्माण की प्रक्रिया है...इस उपभोक्तावाद और विकास से जो हानि हो रही है उसकी चिंता बराबर हबीब तनवीर के साक्षात्कारों में देखी जा सकती है।"⁵² 'जहरीली हवा' में भी वे दिखाते हैं किस प्रकार व्यापक जनसंहार के बाद विकास के सूत्रधार जनता को दयनीय स्थिति में डाल कर छोड़ देते हैं।

नब्बे के दशक के बाद सांप्रदायिक उन्माद ने भी समकालीन जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया। उसे केंद्र में रखकर हबीब तनवीर ने 'जिस लाहौर नइ देख्या' और 'एक औरत हिपेशिया भी थी' जैसे नाटकों का मंचन किया। वे साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध न धर्म से मानते हैं और न ही संस्कृति से। वे कहते हैं "ये बात आप और हम सब अच्छी तरह से जानते हैं कि ये कोई और चीज़ है, इस चिड़िया का कुछ और ही नाम है। इसके पॉलिटिकल कॉम्प्लीकेशन हैं, ये पैदा की गई है, पहले नहीं थी।...ये कुछ अंग्रेजों की देन है, कुछ हिटलर महोदय की देन है।

⁵² कुमार, अमितेश; 'गाती-झूमती मजे लेती वैकल्पिक आधुनिकता'; प्रतिमान; अंक जनवरी-जून, 2013; पृ. 279

साम्प्रदायिकता और फासिज्म में बहुत कम फर्क बाकी रह गया है।”⁵³

हबीब तनवीर अपने समय की सांप्रदायिक शक्तियों के उभार और सत्ता के साथ उनके गठजोड़ के दुष्परिणामों की चिंता से भी वे जूझ रहे थे। इसीलिए उनकी अंतिम प्रस्तुति ‘राजरक्त’ धर्म और राज-सत्ता के संबंधों और टकराव पर ही आधारित है। इस नाटक में एक धर्मांध पुरोहित धर्म की रूढ़ियों को चलने देने के लिए राज-सत्ता को ही पलट देना चाहता है। वहीं जाति प्रथा की विडंबना को ‘पोंगा पंडित’ के माध्यम से व्यक्त किया जिस कारण इस नाटक और स्वयं हबीब तनवीर पर प्रतिक्रियावादियों ने हमले भी किये, लेकिन वे कभी रुके नहीं।

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि समकालीन रंग परिप्रेक्ष्य में हबीब तनवीर दोहरी भूमिका में हैं। उनके नाटकों का कथ्य मानव की संवेदना को छूता है, प्रश्न करता है और सत्ता का विरोध करता है। क्योंकि उनका कहना था सत्ता के विरोध में ही सच्ची कला पनपती है, जिसका सीधा संबंध आम आदमी की तकलीफों, दुखों से होता है। उनकी यही सामाजिक प्रतिबद्धता लोक शैलियों का सहारा लेकर अभिव्यक्त हुई है। उन्होंने ‘नाचा’ के तत्त्वों और लोक कलाकारों के साथ मिलकर एक ऐसा नया रंग मुहावरा गढ़ा जिसमें परम्परा और आधुनिकता का समन्वय है।

⁵³ तनवीर, हबीब; ‘संस्कृति और साम्प्रदायिकता’; राजेन्द्र शर्मा (सं.); सहमत; अंक 40-41, जनवरी-दिसम्बर, 2009; पृ. 114-115